

**The following content has been taken from the book titled**

**‘Kavi Surya Lakhmi Chand’**

**by**

**Krishan Chander Sharma**

**Published by**

**Haryana Publication Bureau**

**Content converted to PDF format for promotional purposes by  
<http://www.haryanavimusic.com>**

**हरियाणा में संगीत और  
सांग का विकास**

संगीत प्रकृति के झरनों व पहाड़ों का उल्लास, नदियों के कल-कल बहते पानी का यौवन, पक्षियों की चहचाहट और कराहट और अपने वक्ष को काटकर मैदानों को उपजाऊ मिट्टी बाँटने वाली घाटियों का विरह तथा जीवन के रेगिस्तान में अपने सूनेपन को प्रेयसी या ईश्वर के दीदार से भरने की खोज में अमरत्व की तलाश करते हुए मानव बांसुरी, बिन, वीणा और सारंगी के सुरों का एक आलम है।

लोक-संगीत सामवेद की सरल, मधुर, पारदर्शी आत्मा को अभिव्यक्त करता है। जिस प्रकार सुबह के सूरज की किरणें, बादलों की ताजा फुहार, विरह से निकले हुए आँसू और सहज हसी दर्शक की आत्मा को मोहती है ठीक उसी प्रकार लोक संगीत के स्वर श्रोता की भावना और मन को जीतते हैं।

संगीत अपने उद्भव में असीमित और प्रभाव में अमर है। मानव और प्रकृति के कण-कण में संगीत समाया हुआ है। संगीत आत्मा को झंकृत करता है और भावनाओं को उदात्त बनाता है। संगीत एवं कला मानव को उसके संकुचित जीवन से ऊपर उठाते हैं। उसके मस्तिष्क को दिव्यता प्रदान करते हैं। संगीत केवल ईश्वर-प्रकृति और मानव-सवेदना को अभिव्यक्त ही नहीं करता, अपितु उसे उदात्त रूप भी देता है।

यही कारण है कि ईश्वर-प्रकृति और मानव-भावनाओं का हमारे देश में जो अभिव्यंजन नाट्य, रासलीला, रामलीला व भजन-गायन पद्धति से हुआ है, वैसा अभिव्यंजन और निरूपण किसी अन्य विधा से नहीं। भाषाविदों के अनुसार वेद संगीतमयी रचनाएं भी कंठ-गायन के माध्यम से जीवित रहीं। गद्य और लिखित भाषा का विकास तो कहीं बाद में हुआ। संसार का स्रष्टा भगवान शिव संगीतमय है, प्रकृति संगीतात्मक है और इसी प्रकार मानव की अमर अनुभूतियाँ भी संगीत में संकलित हुईं और संगीत के माध्यम से उन्हें चिरंजीवी होने का मान प्राप्त हुआ।

भारत-भूमि मानव सभ्यता में नील घाटी, यूनानी तथा असिरियन सभ्यता से कहीं पुरानी सभ्यता की भूमि है। यहाँ के जीवन-दर्शन और संस्कृति ने सारे विश्व के इतिहासकारों, दार्शनिकों और कलाप्रेमियों को आकर्षित किया है। विदेशी भी, चाहे वे ह्यवांग सांग हो या अबुल फज़ल, इस संस्कृति के सम्पर्क में आते ही इसके स्थाई प्रशंसक बन गए। भारत की धरती को, विशेषकर हरियाणा प्रदेश को, अमीर खुसरों की 'स्वप्न-भूमि'

कहा गया है। इस संस्कृति के पक्ष चाहे पाषाण मूर्ति और संगीत हों, चाहे दर्शन या तन्त्र हों, चाहे रहस्यवाद या सूफीवाद हों, शौर्य या सौन्दर्य हों, संगीत, स्वर या मनोहारी अभिनय हों, मोहक वस्त्र आभूषण हों, पवित्र नदियाँ हों, या उनके किनारों पर विचरने वाले सन्त या फकीर हों और चाहे रीति-रिवाज या लोकविश्वास हों—भारत-भूमि की महिमा से जुड़ा हुआ प्रत्येक पक्ष यहाँ के लोगों के लिए गर्व और गौरव का विषय है और विदेशियों के लिए आकर्षण का।

हमारी संस्कृति का ओज तथा इसकी गन्ध अतुलनीय है। लम्बे जीवन की दृष्टि से भी हमारी सांस्कृतिक धरोहर ने कई सभ्यताओं को पीछे छोड़ दिया है, जो समय की तरंगों पर ऊभरी और इतिहास की पतों में समा गईं। उर्दू शायरी के स्तम्भ इकबाल ठीक ही तो फरमाते हैं:

सारे जहाँ से अच्छा यह हिन्दोस्तां हमारा।

हम बुलबुलें हैं इसकी यह गुलसितां हमारा।।

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।

सदियों रहा है दुश्मन, यह दौर जवां हमारा।।

हमारे पूर्वजों की सूक्ष्म बुद्धि ने इस धरती की अनेकता में अनुरूपता के दर्शन किए। प्रदेशीय संगीत, सभ्यता और संस्कृति के भिन्न-भिन्न रूप एक दूसरे से मिश्रित होकर, सम्प्रवाह का रूप धारण कर अन्त में एक सांस्कृतिक धारा के स्वरूप में यहाँ के दर्शन, कला एवं संस्कृति का दरिया बन गए। इसी के फलस्वरूप भारत-माता विभिन्न रंगों और पक्षों को अपने स्वरूप में समेटे हुए, उस दैवी सुन्दरी का सौन्दर्य अभिव्यक्त करती है जिसने आभूषण और वस्त्र तो विभिन्न प्रकार के धारण किए हों, परन्तु उसकी समस्त-सज्जा, उसकी देह-यष्टि के लावण्य में समा जाती है। इस संस्कृति की बड़ी विशेषता यह भी रही है कि जीवन-भावों तथा कलापों की सभी विभिन्नताएं एक ही ईश्वरीय शक्ति का चित्रण मानी जाती रही, जिस प्रकार इन्द्रधनुष के सात रंग एक ही सूर्य-प्रकाश का करिश्मा माने जाते हैं।

हमारे पूर्वज अपने संगीत स्वरों के दिवाने थे। एक ओर उन्होंने प्रत्येक सामाजिक एवं ऋतु-उत्सव पर वैदिक स्वरों का उच्चारण किया और दूसरी ओर उन्होंने पत्थर में संगीत भरने के प्रयास में ऐसी सुन्दर पाषाण-प्रतिमाओं को तराशा, जो विश्व के किसी भी मानव-सौन्दर्य से बढ़कर हैं।

इस कला के पीछे एक आन्तरालिक अनुभव छिपा रहा और वह अनुभव था कि मानव के सभी क्रिया-कलापों के पीछे पुरुष-रूप में ईश्वर और महामाया-रूप में प्रकृति विद्यमान

है। अतः भारतीय नृत्य और नाट्य भी अन्तर्मुखी सौन्दर्य का बाह्य अभिव्यंजन है, जिसमें आंगिक अभिनय के साथ-साथ संगीत-स्वर, लय और सज्जा जुड़े हुए हैं। इसीलिए हमारी कला और संगीत की विद्याएँ मानव-रचना होते हुए भी विराट ब्रह्मा की कल्पना संजोए हुए हैं।

भारतवासी प्रकृति पूजा के अग्रणी हैं। 'पैगेनिज़्म' के नाम से आलोचित इस विद्या के पुजारी अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ और कीट्स तो स्वयं प्रकृति-चित्रण की कविता लिखकर अमर हुए। मिश्र की महान सभ्यता के निर्माता भी तो सूर्य और नदी-उपासक थे। लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व भारतीय लोग सरल, शुद्ध और सर्वभावन वैदिक ऋचाओं का गायन करते रहे; ऐसी ऋचाओं का जो प्रकृति और ईश्वर को अर्पित थीं। संगीत के साथ-साथ रथ एवं घुड़दौड़, मानव-देह में ईश्वरीय शक्तियों के दर्शन करने वाले मूर्ति-निर्माता, हरिश्चन्द्र द्वारा प्रमाणित कर्तव्यशीलता के उपासक, मन को विभोर करने वाले पक्षियों के स्वरो, बर्फ से ढकी हुई घाटियों में नदी के कलरव, नृत्य करती हुई लहरों और मानव-भावनाओं को आन्तरिक संगीत-स्वरो में ढालकर विश्वव्यापी संगीत का रूप देने वाले यही लोग हैं।

स्रोत-रूप में ऋग्वैदिक ऋचाओं के गायन, ग्रीक, ईरानी तथा उत्तर भारतीय संस्कृतियों के सम्मिश्रण से उभरे इस संगीत में आकर मिले। सप्तसिन्धु के नाम से जाने जाने वाले प्रदेश की गाथाएँ, जिनका मूल महाभारत रहा। उधर से तुलसी-कृत रामचरितमानस के प्रभाव ने अवधी और भोजपुरी क्षेत्रों के जनमानस को मोह लिया। रामायण तथा महाभारत जैसे जनव्यापी महाकाव्यों को लोकभाषा में गाने-वाले गायक सहज ही खड़ताल, ढोलक तथा नगाड़े का प्रयोग करने लगे। एक तरफ जन्म हुआ संस्कृत की विशुद्ध शैली में कथक और भरतनाट्य का और दूसरी ओर प्राकृत नाटक और लोक संगीत जनसाधारण में पनपते रहे। रामलीला, रासलीला, कृष्णलीला मध्ययुगीन भारत के गीतिनाट्य, पौराणिक साहित्य और महाकाव्यों में उल्लेखित कहानियों का लोकभाषाओं और लोकसंगीत के माध्यम से प्रस्तुतीकरण है। प्रो. ए.बी. कीथ, कोनो, लेवी तथा हिल ब्रांट आदि विदेशी विद्वानों की मान्यता है कि लोकप्रचलित स्वांगों की सत्ता वैदिक कर्मकाण्ड से सम्बद्ध रूपकों से तथा संस्कृत नाटकों से भी पहले विद्यमान थी।

हरिवंश पुराण में पूर्ण रूप से विकसित नाट्य-परम्परा का वर्णन है और यहाँ रामायण के अभिनेताओं की कहानी भी उपलब्ध है। 140 ईस्वी पूर्व रचित पातञ्जल महाभाष्य में कृष्ण और कंस का अभिनय करने वाले दो धड़ों का वर्णन है। कई विद्वानों के अनुसार हरियाणा का लोकनाट्य भी लोकसंस्कृति के क्षेत्र में विकसित इन्हीं परम्पराओं का रूप है। सरस्वती-तट आर्य लोगों का प्रथम निवास रहे और यहीं से भारत की आर्य-सभ्यता का

प्रसार भारत के समस्त भू-खण्डों में हुआ। संस्कृति-प्रेमी ये लोग आरम्भ में संगीत के और बाद में दृश्य कला (Visual Arts) के पुजारी रहे। नाटक के सहारे उन्हें सौन्दर्य-भाव, ध्वनि, लय, संगीत तथा दार्शनिक अनुभूति एवं आत्म-रस की प्राप्ति भी युग युगान्तर में होती रही।

जैसा कि पहले ही विवेचन किया जा चुका है, विद्वानों से परिपूर्ण राज-समारोहों की सभाएँ संस्कृत कवि कालिदास, भास और अश्वघोष के नाटकों का आनन्द लेतीं और इसी के साथ ग्राम-जीवन में पनपने वाले जनसाधारण अपनी लोकभाषा में प्राकृत नाटकों का आनन्द लेते। यहाँ के निवासियों ने जो प्रकृति और ईश्वर का निरूपण अपने जीवन में तलाशते थे, एक विशाल संगीत-नृत्य, भाव और लावण्य विद्या को जन्म दिया। इसी महान थाती या धरोहर से हरियाणा के लोकनाट्य स्वांग या सांग का जन्म हुआ है।

हरियाणा का लोकनाटक सांग उनकी संस्कृति के समस्त जीवन का दर्पण है। लोगों के सामाजिक और नैतिक मूल्य, लोक-जीवन की शौर्य और प्रेम-कथाएँ, दान-पुण्य और अतिथि-सत्कार के भाव और रचयिता के प्रति आस्था—सभी कुछ तो लोकमंच और सांग-रचनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। लोकमंच के विशाल साहित्य का यदि वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो सहज ही अनुभव होगा कि सांग शताब्दियों के सांस्कृतिक जीवन और जीवित-इतिहास का मंचीय प्रदर्शन है। सांग गीत, संगीत और नृत्य का कला-संगम है। जिस प्रकार सावनी हवाएँ और फागुनी ऋतु-गंध किसान के अन्तर्मन को मोह लेती हैं, इसी प्रकार सांग का संगीत भी मन और आत्मा पर जादू का काम करता है। साथ-साथ लोक धुनों पर गाई जाने वाली गाथाएँ, अभिनय, संवाद और वाद्य-यन्त्रों के स्वरो से सज्जित होकर लोक-परलोक दोनों का अनुभव दर्शकों को करवाती हैं। रागनी, दोहे, या चौबोले या काफिये के माध्यम से ज्यों-ज्यों सांग का कथानक आगे बढ़ता है त्यों-त्यों सांगी और दर्शक एक-लय होकर, इस प्रकार सामूहिक कला का आनन्द अनुभव करते हैं, जिस प्रकार पहली बरसात की बून्दें और मिट्टी के कण एक दूसरे में आत्मसात होकर धरती को पल्लवित करते हैं।

सांग कला-अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ जनसमुदाय का मनोरंजन है। अमीर या गरीब, उन्नत या पिछड़े हुए, कुलीन या दलित, वयस्क या वृद्ध, सभी तो सांग-मंच के चारों ओर लोकजीवन की इस मनोरंजनकारी गंगा में गोते लगाते हैं और वे अपने को केवल मानव-दर्शक मानकर समानानुभूति का आनन्द लेते हैं।

वैसे तो सांग-परम्परा भारत में किसी-न-किसी रूप में प्रचलित है, राजस्थान में तमाशा, तुरी, कल्गा और ख्याल, गुजरात में भवाई, बंगाल में यात्रा, उत्तर प्रदेश में नौटंकी,

मालवा में माच और ब्रज-क्षेत्र में भगत सांग-परम्परा से मिलते-जुलते नाट्य रूप हैं। फिर सांग तो किसी-न-किसी रूप में वैदिक काल से ही प्रचलित रहा है। डा० ए० बी० कीथ का मत है कि वैदिक कालीन ब्राह्मण देवताओं और ऋषियों के रूप में स्वर्ग का स्वांग धरती पर करते थे। इसी परम्परा में पौराणिक मतों के अनुसार तो संगीत और नृत्य प्रकृति और पुरुष को एक ही साथ अभिव्यक्त करने वाले अर्द्धनारीश्वर भगवान शिव की मानव को देन है। महाकवि कालिदास ने अपने नाटकों में, सोमदेव ने 'सरित सागर' और बाणभट्ट ने कादम्बरी में 'संगीतक' प्रथा की चर्चा की है।

मध्ययुगीन भारत में सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों में सांग प्रचलित था। विद्वानों के मतानुसार सन् 1531-32 के आस-पास महाप्रभु वल्लभाचार्य ने प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध कृष्ण-अभिनय को रासलीला के रूप में प्रस्तुत करके एक नई गीतिनाट्य-परम्परा को जन्म दिया। कुछ समय बाद इसी शैली में सैय्यद आगा हसन अमानत ने 'इन्द्र सभा' की रचना की। वैसे तो लाहवा नगर में 14वीं शताब्दी का एक दुर्लभ ग्रंथ "सांग राजा रत्नसेन का" भी प्राप्त हुआ, जिसमें सांग के काफी अंश विद्यमान हैं। शाहजहां आलमगीर के समय के प्रसिद्ध विद्वान मौलाना गनीमत ने अपनी पुस्तक 'नौरंग-ए-इश्क' (1685) में सांग और नकल अभिनय का विस्तृत वर्णन किया है। भक्त कबीर भी सांग-प्रथा से सुपरिचित थे। भजन-उपदेश के प्रति उदासीन श्रोताओं पर कटाक्ष करते हुए वे कहते हैं :-

*'होये जहां कहीं स्वांग तमाशा, तनिक न नींद सताया रे'*

बाबा नानक तो सारे संसार को स्वांग मानते हैं, जिसके रचयिता और मंच-संचालक स्वयं भगवान हैं। मेवात-निवासी सादुल्ला की महाभारत सदियों तक भरतपुर, अलवर, रेवाड़ी और मेवात के क्षेत्रों में प्रचलित रही। इस रचना के आधार पर कई एक लोकनाटक और लोकगीतों की रचना सादुल्ला ने की, जो कृष्ण वंशी मेवात के 16वीं शताब्दी में महाकवि रहे हैं।

आधुनिक अर्थ में हरियाणा प्रदेश में सांग का जन्म और निरन्तर विकास किसन लाल भाट के साथ हुआ, जिन्होंने सन् 1730 से लेकर 18वीं शताब्दी के अन्त तक सांग-परम्परा को आगे बढ़ाया। सांग में एक पूर्ण कथानक के साथ संगीत और नृत्य का समन्वय भी रहता था। उनके समय के कथानक थे - नौटंकी और लैला-मजनूँ। कथानकों को आगे बढ़ाने में सहायता देते थे - स्त्रीवेष धारी पुरुष-पात्र। सांगी-पात्र और वादक सभी गाँव की मुख्य गलियों के चौराहों पर खड़े होकर अभिनय करते थे। उस वक्त की कविता बड़ी सरल थी और चार पंक्तियों के चौबोलों का प्रयोग होता था। चौबोला को हरियाणा में चमौला के नाम से जाना जाता है।

सांग-मंच की सज्जा केवल धरती पर बिछी हुई दरी या खरड़ होते और रोशनी का काम करता मशालची, जो कुप्पी में से मशाल को प्रज्वलित रखने के लिए तेल डालता रहता और साथ ही अभिनय और नृत्य में लीन कलाकारों के चेहरों पर रोशनी भी डालता था। मशालची को स्वयं भी कथानक नृत्य और संगीत के भावों के अनुसार अपने शरीर को ढालना होता था और वह आधुनिक नाटक का 'लाईटमैन' न हो कर सांग का एक अभिन्न अंग होता था।

जैसे पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, सांग का अटूट सम्बन्ध मंच से है। बिना मंच के सांग या तो एक संगीत की पुस्तक है या गायन की एक सभा। सांग-विधा में तालाब के किनारे और वृक्षों के बीच निर्मित तख्तों की स्टेज, सारंगी, हारमोनियम के सुर, ढोलक और नगाड़े की संगीतात्मक लय सांग-कथानक के साथ मिलकर साधारण से साधारण श्रोताओं को भी कला-समुद्र की गहराई और आकाश-मार्ग के नक्षत्रों तक के दर्शन करवाते हैं और फिर सांग तो जन्मा नककालों और मुजरों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में, जहाँ अमीर घरानों की हवेलियाँ ही मनोरंजन पाती थीं। यही कारण है कि सांग को कला पार्षद 'पापुलर फोक फोर्म' के रूप में जानते हैं।

सांग किसनलाल भाट के युग के समय से विवाह, त्यौहार, मेले, कुश्ती-दंगल, देवी-देवताओं के पूजन-अवसर और तत्पश्चात् सार्वजनिक विकास के कार्यों के लिए धन एकत्रित करने के लिए बुलाए जाते रहे हैं। सांगी बेड़े का खान-पान, विश्राम आदि का दायित्व उसे आमन्त्रित करने वाले ग्रामीणों पर होता था। सांग की समाप्ति पर सांगी को पूर्व निश्चित भेंट भी दी जाती।

हरियाणा का सांग गुप्तकालीन योद्धियों की धरती रोहतक या 'रोहितक' के क्षेत्र के चारों ओर बाँगड़ की धरती को धुरी मान घूमता रहा। सम्राट हर्षवर्धन के युग का नाटक मण्डलियों और अभिनेताओं को मिला सम्मान तो सांग को कभी राज-दरबार से नहीं मिला, परन्तु जन-जन की प्रशंसा, गली-गली की आत्मीयता और गाँव-गाँव का आमन्त्रण, जो सांग को मिला, वह इतिहास में किसी भी अन्य कला को प्राप्त नहीं हुआ। आरम्भ में तो सांगों के कथानक आल्हा-ऊदल जैसी शौर्य-गाथाओं, नाथ-पंथी महात्माओं के चमत्कारों और धर्मप्रधान लीला-नाटकों से जुड़े रहे। परन्तु बाद में ये कथानक धर्म और नीतिप्रधान न रह कर प्रेम रोमांच और सौन्दर्य-संवलित हो गए। हीर-रंझा, नौटंकी, पद्मनी, लैला-मजनूँ, जमाल, शकुन्तला, हूर मेनका, सरणदे, महकदे, आदि सांग इसी श्रृंखला के परिचायक हैं।

किसन लाल भाट के सांगों का अधिक इतिहास तो उपलब्ध नहीं है, परन्तु उनका



निश्चित रूप से प्रशंसनीय योगदान रहा सांग को जगव्यापी और सामुदायिक मनोरंजन का रूप देने में। प्राकृतिक वातावरण में बिछा मंच, संगीत-प्रेमी दर्शकों के उच्छ्वास, सारंगी की तरंगें, नगाड़े की लय, चौबोलों, काफिए और रागनियों का गायन, मशालची की सूझबूझ से पात्रों के मुख पर डाली गई रोशनी और घूंघट में मुँह ढककर अपने घरों की छतों पर दर्शक बनी महिलाओं की उत्सुकता और सांग-अभिनय से आत्मसात् हुए युवकों की 'वाह! वाह!!' ध्वनि - सब कुछ ने मिलकर इस लोकविधा को इन्द्रपुरी के लास्य और सौन्दर्याभिव्यंजन की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया।

किसनलाल भाट के बाद बंसीलाल नामक सांगी ने 19वीं शताब्दी के आरम्भ में कुशल सांगी का अभिनय किया। उनके सांग गोपीचन्द का विवरण प्रसिद्ध लेखक आर० सी० टेम्पल ने 'दी लीजेण्ड् ऑफ दी पंजाब' में किया है। बंसीलाल के सांग कौरवी क्षेत्र अम्बाला और जगाधरी में होते थे। 19वीं शताब्दी के मध्य में फिर सांग का डंका बजाया धारूहेड़ा, रेवाड़ी, मेवात और भरतपुर के क्षेत्र में अलीबरख्शा ने। उनकी यह खूबी थी कि वे अपनी रचनाएं शुद्ध शास्त्रीय संगीत की धुनों पर गाते थे। आज भी अलीबरख्शा का चबूतरा रेवाड़ी में विद्यमान है और बड़े से बड़े संगीतज्ञ उन्हें नमस्कार करते हैं। सन् 1980 में जब मैं नारनौल जिले में उपायुक्त था, तो रेवाड़ी के पुरोहित परिवार के आमन्त्रण पर मुझे शास्त्रीय धुनों पर रचित अलीबरख्शा की रचनाएं सुनने को मिलीं और मुझे लगा कि हरियाणा वास्तविक रूप से संगीत, शौर्य और देवत्व की भूमि रहा है, जिसमें शौर्य तो अभी भी कायम है, परन्तु संगीत और देवत्व का काफी सीमा तक हास हो चुका है।

अलीबरख्शा का समय सन् 1854 से 1889 तक है। उन्होंने चौबोला, जिकारी, बहार, गजल और भजन के रूप में अपनी गेय रचनाएं विकसित कीं। उनके प्रसिद्ध सांग रहे - पद्मावत, कृष्णलीला, निहालदे, चन्द्रावल और गुलबकावली। परन्तु अलीबरख्शा की रचनाएं तथा संगीत लोकधुनों के अभाव में अपेक्षित लोकप्रियता अर्जित नहीं कर पाए।

अलीबरख्शा के समकालीन सांगी कुछ और भी थे। अहमदबरख्शा ने कौरवी बोली में रामायण की रचना की और उसका सांग-प्रणाली में मंचन भी किया। इसी प्रकार सांगी बालकराम ने कुरुक्षेत्र स्थित सन्निहित और ब्रह्मसरोवर की परिधि में पूरण भगत, गोपीचन्द और शीलादे आदि सांगों की रचना की तथा उन्हें अभिनीत भी किया। उनकी गायन शैली थी ख्याल, सवैया और चौबोला। अहमदबरख्शा कुरु-भूमि पर भादर अखाड़े के शिष्य कहलाते थे और उनके सांग नानक के अखाड़े से कहीं अधिक लोकप्रिय थे।

19वीं शताब्दी के अन्त में वैराग्य और भक्तिप्रधान कवि शंकरदास (मेरठ) के शिष्य हुए पं० नेतराम। एक बार कुरुक्षेत्र में भजन-कथा करते हुए वेदाचार्य नेतराम के कथावाचन

को छोड़ सभी श्रोता उनके दंगल को छोड़ खेड़ी (मेरठ) निवासी पं० किसन लाल के सांग में चले गए। पं० नेतराम ने भी रसहीन कथोपदेश को छोड़ लोकभाषीय संगीत का सहारा लिया और सांग-मण्डली का निर्माण किया। उनके प्रसिद्ध सांग थे-गोपीचन्द, शीलादे और पूरणभगत।

20वीं शताब्दी का आरम्भ हरियाणवी सांग के लिए अंग्रेजी नाटक के क्षेत्र में शैक्सपीरियन युग के तुल्य साबित हुआ। इस युग के सूत्रधार रहे लोककवि छज्जूराम के शिष्य सेरीखाण्डा (सोनीपत) निवासी दीपचन्द ।

पं० दीपचन्द कथापाठी से सांगी हुए थे और उनका स्वर बड़ा लुभावना था। दीपचन्द का गायन बड़ा प्रभावशाली था और काफिया शैली की कविता बड़ी मनमोहक । अंग्रेजी शासन ने प्रथम विश्वयुद्ध के समय उनके सांगों को भर्ती-अभियान के रूप में इस्तेमाल किया और उन्हें 'रायसाहब' की पदवी से भी विभूषित किया गया। उनकी शासन-प्रेरित कविता इस प्रकार की थी-

“भरती होल्ये रै, थारै बाहरय खड़े रंगरूट।

आड़ै मिलता फट्या पुराणा, उड़ै मिलैगें फुल्ल बूट।”

मंच-विकास में दीपचन्द का योगदान महत्वपूर्ण है। जो सांगी अभी तक मंच पर खड़े रहते थे उन्हें मंच के मध्य अपने पार्ट के बीच-बीच मूढ़े पर बैठने का अवसर मिला। साजिन्दों के लिए मंच के मध्य बैठने का स्थान दिया गया। करताल (खड़ताल) का प्रयोग निरन्तर बना रहा। सारंगी, ढोलक और नगाड़े का प्रयोग बढ़ा। दीपचन्द ने अंग्रेजी शासन के साथ भारत में आने वाले हारमोनियम को भी सांग-वाद्यों में शामिल किया। उन्होंने कलाकारों और टेकियों की संख्या भी बढ़ा दी, जिनका काम था मुख्य सांगी या सांग के पात्रों द्वारा गाए गए आरम्भिक मुखड़ों को दोहराना। दीपचन्द के स्त्री-पात्रों के आभूषण और वस्त्र-सज्जा थे—काले रंग का लहंगा, उस पर धारू रंग की अंगिया और लाल रंग का ओढ़णा। अंगिया के साथ प्रायः 40 तोले की चाँदी की तीन-बीजनी लगी होती थी, जिससे नर्तक अभिनेता अपनी छाती को नृत्यगति देकर विशेष झंकार उत्पन्न करते थे। उन्होंने चौबोले की जगह काफिया छन्द का आविष्कार किया, जिसमें तीन कली का प्रयोग होता और तुक पर विशेष ध्यान दिया जाता। पं० दीपचन्द के प्रसिद्ध सांग थे- सोरठ, सरणदे राजा भोज, नल-दमयन्ती, गोपीचन्द, हरिश्चन्द्र, उत्तानपाद और ज्यानी-चोर। पं० मांगेराम द्वारा रचित निम्नलिखित रागनी के बोल दीपचन्द की सांग-पद्धति पर यथेष्ट प्रकाश डालते हैं:

दीपचन्द के खिम्मा कुतबी धोली चादर ओढ़्या करते,

ओले-सोले हुंगे लाकै हाथ तले नै कोदया करते,  
 गोली ज्यूँ निशाना लागै, तीन काफिए छोड्या करते,  
 खिम्मा तो सोरठ बण ज्याता दीपचन्द बणता बंज्यारा,  
 "बेट्टे कुतबी बेट्टे कुतबी" मैरे मार दिया फटकारा,  
 बीजा बण के आया करता बीन बजा के सांग दिखारा,  
 दो नक़ली तरव्तां के ऊपरय कहते बात उघाड़ी।  
 रै इब ज्ञान रहा नां, दुनिया की चाल बिगाड़ी।।

दीपचन्द के बाद और सूर्य कवि लखमीचन्द के बीच अनेक सांगी हुए जिनमें अधिक बोलबाला गोरड़-निवासी हरदेवा और सिसाना-निवासी बाजे भगत का रहा। परन्तु जिन सांगियों का प्रचलन रहा, वे थे सरूपचन्द (दिसोरखेड़ी), मानसिंह जोगी (सैदपुर) भरतु (भैंसरू), निहाल (नांगल), सूरजभान वर्मा (भिवानी), हुक्मचन्द (किसमिनाना), धनसिंह जाट (पूठी), अमरसिंह नाई तथा चितरू लुहार। सरूपचन्द ने अपने सांगों में भजन-रागनी, चौबोलों, मरहटी, काफिया, दवंग, सारंग, शेर और गजलों का प्रयोग किया। उपर्युक्त सांगी एक ओर तो लोक-कथाओं का रस दर्शकों पर उडेलते और दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते।

दीपचन्द के बाद का सांग-युग हरदेवा का युग माना जाता है। उन्होंने अपने गुरु दीपचन्द द्वारा निर्धारित स्त्री-वेष में तबदीलियाँ की और धारू की अंगिया का स्थान लिया साधारण कुर्ते ने। उन्होंने दीपचन्द के काफिया छन्द को त्याग कर सर्वप्रथम रागनी-परम्परा का आरम्भ किया। पं० मागेराम की ये पक्तियाँ हरदेवा एवं उनके शिष्य बाजे भगत चतरू आदि कलाकारों पर समुचित प्रकाश डालती हैं:

रै इब ज्ञान रहा नां, दुनियां की चाल बिगाड़ी।  
 हरदेवा तो रौंझा बणत्ता, चतरू की बणाई हीर,  
 सादिक के म्हैं जाया करता, बोल्लां के मारै था तीर,  
 "मरगये चतरू मरगये चतरू," कहते देखे मर्द बीर,  
 बाज्जे नै एक झम्मन पाल्या, गिण कै डांक मराई तीन,  
 मरगये-मरगये करते देखे, आँख्याँ देख्या करो यकीन,  
 जमाल बणा कै कुरान पढाई, लोगगां के बिगाड़े दीन,  
 ब्होत से पागल हीरामल पै, मरते सहम अनाड़ी।।

हरदेवा के प्रसिद्ध सांग थे : हीरामल-जमाल, धरमकोर-रघबीर, हीर-रांझा, बीजा-सोरठ।

हरदेवा के शिष्य बाजे भगत लखमीचन्द से पूर्व हरियाणा के प्रसिद्ध सांगी हुए। वे जाति से नाई थे और उनकी कविता में नीति और धर्म का आधिक्य होने के कारण उन्हें लोग 'बाजे भगत' के नाम से पुकारते थे। उन्होंने काफी सांग किए परन्तु उनके लोकप्रिय सांग थे जमाल, रघबीर, चन्दकिरण और गोपीचन्द। उनके सांगों में अधिकतर प्रयोग रागनी का ही रहा। साज-संगीत में भी बाजे भगत ने काफी सुधार किया। वे छॉट-छॉट कर सारंगी, ढोलक, नगाड़े और हारमोनियम के कलाकार अपने मंच पर लाए। उनकी रागनियां संगीतमयी तो थी परन्तु धुनें बहुत लम्बी-लम्बी थी। यही कारण है कि कवित्व में काफी सुलझे हुए होने के बावजूद भी वे लखमीचन्द की-सी लोकप्रियता नहीं पा सके। वे पं० लखमीचन्द के साथ हर वर्ष नांगलोई के पशु-मेले में सांग करने जाते और इनाम की पहली भेंट लखमीचन्द की संगीत और अभिनय कला पर न्यौछावर होकर उन्हें दिलाते। उनके गाँव-निवासी नगाड़ा-उस्ताद झम्मन ने मुझे बताया कि बाजे भगत ने अपने दो जाट युवक कातिलों की पहचान केवल इसलिए गाँव वालों को नहीं दी कि अपने जन्म-स्थान सिसाना और उसके चारों ओर के इलाके में वैमनस्य न फैले। बाजे भगत बहुत बड़े इन्सान थे।

इसी के साथ-साथ प्रादुर्भाव होता है एक नये युग का। सन् 1920 से 1945 तक के इस युग का नाम है लखमीचन्द युग। सामवैदिक युग से लेकर इस युग के आरम्भ तक जो प्रगति हरियाणावासियों ने संगीत-नृत्य, मंच और अद्भुत स्वर और वाद्यों के क्षेत्र में की वह 20 वर्षीय अल्पायु के लखमीचन्द युग की उपलब्धियों के सामने कला-विकास के परिप्रेक्ष्य में अधिक उत्तम नहीं।

समस्त भारत का संगीत सामवैदिक स्वरो से आप्लावित है और इन स्वरो का जन्म हुआ सरस्वती की माटी पर। मार्कण्डेय ऋषि ने सप्तशक्ति का सर्जन किया शाहबाद के नजदीक मार्कण्डेय नदी के तटों पर। मानव-स्वरो के सामीप्य पर पूरे उतरने वाले सारंगी-साज का जन्म हुआ पानीपत में, तबले ने जन्म लिया गाँव कंझावला (सोनीपत) की जमनामयी धरती पर। आज भी कंझावला के किसी साधारण मिरासी को तबला-प्रणाली के उस्ताद संगीत के वली की तरह झुककर नमस्कार करते हैं। दुन्दुभि ने जन्म लिया रोहतक की धरती पर जहाँ के दुन्दुभि-वादकों को कालिदास के अनुसार उज्जैन के राज-समारोहों में आमन्त्रित किया जाता रहा। इस धरती की सन्तप्रधान भावनाएं, युद्ध में लाखों की संख्या में बलि चढ़ जाने वाले युवकों का उदास परिवारों पर प्रभाव तथा भयंकर बाढ़ और अकालों

को जन्म देने वाली प्रकृति ने करुणा और प्रेम के कोमल भावों को जन्म दिया और इसी लिए क्षणिक जीवन में स्थायीत्व ढूँढने की तलाश में यहाँ के लोग या तो साधु-सन्तों का सहारा लेते या संगीत-स्वरों का। इस परिप्रेक्ष्य में उभरने वाले लखमीचन्द ने एक ओर तो उपर्युक्त जीवन-दर्शन को अपने सांगों में अभिव्यक्त किया और दूसरी ओर जो कुछ संगीत, कला और दर्शन की धरोहर कालान्तर में इस धरती ने प्राप्त की, उसे लखमीचन्द ने लोकभाषित शब्दों में संवारा और चित्रित किया। उदाहरण के तौर पर समस्त गीताज्ञान लखमीचन्द ने सांग पदमावत की एक रागनी की दो पंक्तियों में ही समाहित कर दिया:

लखमीचन्द छोड़्य सब फण्ड,  
मिलैगा करम कर्ये का फल दण्ड।

इसी प्रकार वैराग्य-भाव से जीवन की क्षणिकता निहारने वाले लखमीचन्द सांग 'हरिश्चन्द्र' में एक जगह कहते हैं :

लखमीचन्द करम की छींट,  
या जिन्दगी रोटी पर का टींट।

मातृ-सत्ता को ऋषि मार्कण्डेय के भावों में अभिव्यक्त करते हुए लखमीचन्द उपदेशात्मक रागनी में कहते हैं:

“रचा दिया जग सारा,  
हे देबबी मैय्या, कदय हो दरस तुम्हारा।”

अपने पूर्वज आर्यों की तरह लखमीचन्द प्रकृति-प्रेम में भी पीछे नहीं रहे। मीरा की अलौकिक मुखाकृति को चित्रित करते हुए वे सांग 'मीरा बाई' में महाराणा उदयपुर के सिपाहियों से वही सौन्दर्य वर्णन करवाते हैं, जो संस्कृत कवि कालिदास ने कभी वन में विचरने वाली अप्सरा सुन्दरी शकुन्तला का किया :

भूलगये हथियार दोन्नुं, मीरा कान्हीं देक्खण लागे।  
देखके नैं रूप उसका, शिकारी दाहका खामगे॥  
तेज्जी मैं श्याम, शान्ति में चन्द्रमा कैसी श्यान,  
न्यूनैं लिकड्या करते सूरज भगवान, आज बाणचक्कू न्यूनैं आगे॥

अर्थात् मीरा की मुखाकृति सायंकालीन सूरज की प्रखरता, शीतल चन्द्रमा की कोमलता और उगते हुए सूर्य की कोमल किरणों का मिलन स्थल है। मीरा के कान्तिमान चेहरे को देखकर लगता है कि सूर्य भगवान पूर्व दिशा से उदित न होकर मीरा के मुख से उदित हो रहे हों।

जहाँ तक सांग-प्रणाली का सम्बन्ध है, लखमीचन्द के रोचक एवं विविध कथानक, उनकी रागनियों का जादूकारी संगीत, पराकाष्ठा तक विकसित रागनियों के बोल, संवाद-योजना और अपने कण-कण को संगीतमय और नृत्यमान बनाकर सांग करने की पात्रों की अदाएँ—संक्षेप में समस्त काव्य-रस का प्रभाव इतना गहरा था कि वे दर्शकों के लिए 'लीजेण्ड' बन गए। उनके प्रेम-प्रधान सांगों ने उतना ही रस अपने युवा दर्शकों को उपलब्ध करवाया जितना कि संस्कृत के पाठक या नाट्य-दर्शकों को अपने जीवन में अश्वघोष के 'सोन्दरानन्द' कालिदास के 'शाकुन्तलम्' और भास के 'वासवदत्तम्' से मिला होगा। एक बार भी उनका सांग देखने वाले दर्शकों के मन में उन्हें पुनः सुनने और देखने की लालसा उन्हें निरन्तर झिझोड़ती रहती। उनके प्रेमी सिंधुवासी भरत सिंह ने ठीक ही तो फरमाया है, "किते चीज मिलैनां और बहम-सा होज्या" अर्थात् जो गायन और मंचन लखमीचन्द के समय मौजूद था उसकी पुनरावृत्ति हो नहीं सकती और कला-पिपासु की प्यास बुझने का सवाल ही नहीं। उदाहरणार्थ लखमीचन्द ने अपनी नायिका पदमावत को कमनीय देह-यष्टि और समस्त परिधान के साथ केवल 15 सेर बोझ वाली कामनी के रूप में चित्रित किया है:

सोवै श्री अपणी मोज मै, उडै पोंहच गया रणवीर जड़ मै बैठग्या जा कै।

लखमीचन्द रट्य माला हरकी,

मिली खुदय अर्धशरीरी घर की,

कुल्य पन्दरा सिर की बोझ मै, सुध्य लहैगें सुध्य चीर, चाहे कोए देख ल्यो ठा कै।

लखमीचन्द नायिका और नायक के प्रथम-मिलन के प्रणय-भावों को भी बड़ी खूबी से रूपायित करते हैं। सांग 'नोटंकी' में स्त्रीवेष में फूलसिंह और नायिका नौटंकी आपस में हाथों का स्पर्श पाकर अनोखे स्पन्दन का अनुभव करते हैं और उनका वार्तालाप-माधुर्य मुख में पिघलती हुई मिश्री की डली जैसा है।

आनन्द होण लगे काया मै, ज्यद् हाथ मिले हात्थां मै।

मिसरी कैसी डली घुलण लगी, आपस की बातं मै।।

ऐसा रोमांचकारी विवरण कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' में उस समय देखने को मिलता है जब नायक और नायिका संकोच के बान्ध तोड़कर प्रथम-मिलन में एक-दूसरे के समीप आते हैं।

संक्षेप में लखमीचन्द ने पौराणिक, लोककथाओं से सम्बद्ध तथा अपनी कल्पना पर आधारित सांगों की रचना की और उनका मनोहारी मंचन किया। उन्होंने लगभग 2500

रागनियों और 1000 नई लोकधुनों का विकास किया। लखमीचन्द का युग हरियाणवी सांग-परम्परा में सुनहला युग है। तथाकथित शिक्षित समाज ने उनका विरोध किया और उन पर कामुक गायक और नर्तक होने के आरोप लगाए। लखमीचन्द ने उतनी ही सशक्तता से अपने आलोचकों को उत्तर दिया। उनकी रागनी “इन मर्दों में क्या दोष है धारण मैं भेष जनाना” भारतीय संस्कृति के जड़ और मूल को अभिव्यक्त करती है। रागनी का भाव है - कि भगवान शिव ने अपने डमरू और पार्वती के साथ लास्य नृत्य से संसार को ज्ञान और कला का दान दिया और भगवान कृष्ण ने अपनी बांसुरी के अनुपम स्वरों से गुजरियों के हृदय को जीता तो स्त्री-वेषधारी सांगी से चिड़ क्यों ?

चाहे पक्ष सम्पूर्ण संगीत का हो, चाहे रोमांच, वैराग्य या ऐतिहासिक प्रकरण के कथानक का, चाहे पक्ष अभिनय का हो या स्वर-साधना का, सारंगी की जादुई तरंगों का हो या ढोलक और नगाड़े की लय का, श्रोताओं के भावों का या सांग के संयुक्त कला-प्रभाव का पं० लखमीचन्द अपनी संगीत-लहरियों, अभिनय-कौशल और नाट्य विविधता के कारण लोकविधा के शैक्सपीयर हैं और संगीतपक्ष के कलियुग में जन्मे गन्धर्व हैं। इसलिए लोग उन्हें सूर्यकवि कहते हैं।

इस सूर्य कवि ने भारतीय जीवन-दर्शन और लोक-गाथाओं की जीवन-धारणाओं को गहराई से आत्मसात् किया और समग्रता के साथ उन्हें संगीतमय मंच से अभिव्यक्त किया। वे लोकजीवन, लोककला तथा लोकमानस के सर्वोत्तम दर्पण हैं। लखमीचन्द के सांग एक ओर तो गाँव के तालाब की तरह युवा वर्ग के कवित्व-क्रीड़ास्थल थे, तो दूसरी ओर परिपक्व दर्शकों के लिए उनके जीवन में आशा, आस्था, कर्तव्यशीलता, त्याग और प्रभु-समर्पण के दर्शन करवाने वाले कला-स्थल थे।

उनके सांगों का प्रभाव लोकमानस पर उतना ही व्यापक था जितना कि खेत की थकान से लौटने वाले खेतीहर प्रेमी के लिए अपनी सुन्दर प्रियतमा की मनमोहक आँखों का। उनके संगीत-स्वर और भाव किसी भी लेखन की समग्रता से अभिव्यक्त नहीं किए जा सकते, उन्हें तो केवल द्रष्टा, दर्शक और श्रोता बनकर ही आत्मसात् किया जा सकता है। उनकी सांग-विद्या मनोरंजन, अभिनय और संगीत प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ मंगलाचरण भी करती रही। प्रत्येक सांग प्रभु, ईश्वर या देवी-वन्दना से आरम्भ होता और ‘नगर खड़े की जय’ के साथ समाप्त होता।

संक्षेप में लखमीचन्द का युग सम्पूर्ण रूप से विकसित रागनी-युग, पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ लोक-संगीत-माधुर्य युग, जनमानस को उद्वेलित करने वाले विकसित काव्य और अभिनय का युग है; जिसकी नकल तो की जा सकती है परन्तु सार्थक पुनरावृत्ति नहीं।

उनके शिष्य सुल्तान ने ठीक ही तो कहा था, “नया काम तो जिद करां, जै लखमीचन्द ने किमै छोड़्या हो तै।”

इतिहास इस बात का साक्षी है कि युग-पुरुषों के योगदान का जिक्र तो किया जा सकता है परन्तु उसमें कोई सुधार या संशोधन नहीं। जिस प्रकार मीरा की भक्ति अपने आप में सम्पूर्ण है, भगवान कृष्ण का गीता-सन्देश धर्म-मार्ग की पराकाष्ठा है, कालिदास का प्रकृति-चित्रण और उपमाएँ अनिन्द्य हैं, जिस प्रकार राधा-कृष्ण, रोमियो-जुलियट और हीर-राँझा के प्रणय-बन्धन मानव-प्रेम की चरम सीमा हैं और गंगा का जल अपने आप में पवित्रता का पर्याय है, उसी प्रकार लखमीचन्द का सांग और संगीत और उसके माध्यम से अभिव्यक्त मानव-जीवन के मूल्य संस्कृति की एक दिव्य झलक है, जिससे आगे इस कला की स्मृति और अनुसरण ही सम्भव है।

लखमीचन्द की मृत्यु के साथ हरियाणा में सांग के स्वर्णयुग का अन्त हुआ। ‘बाह्यण’ लखमीचन्द के बिना यहाँ के कला-प्रेमियों की स्थिति कुछ ऐसी बन गई जिस प्रकार भगवान कृष्ण के बिना यदुवशियों की। पर लखमीचन्द को तो गालिब की तरह यह एहसास था कि उनकी मृत्यु से उत्पन्न होने वाले खालीपन को शायद ही कोई भर पाए। इसीलिए तो उन्होंने सांग पूरणमल की एक रागनी में कहा था,

“कुछ दिन के मैं सुण लियो लोगो, लखमीचन्द बाह्यण मरग्या।”

मांगे राम ने, जो पं० लखमीचन्द के बाद सब से बड़े सांग-स्तम्भ रहे खुद अपनी इस रागनी में माना कि उनके गुरु जांटी गाँव में ब्रह्मा-विष्णु और शिव के तुल्य हैं और वह तैरती हुई गुरु-ज्ञान की नौका के यात्री के अतिरिक्त कुछ नहीं।

मेरै होए का आनन्द नां मेरे का सोग, दिल पात्थर कैसा कर रया सँ।

दरव-दरदां का बोझ देवकी, अप्पणे सिर पर धरया सँ ॥

ब्रह्मा-विष्णु-शिवजी भोला, सब जाण्य लिए जाट्टी के म्हां,

गंगा जमना त्रिवेणी मन्नै, मान्य लिए जाट्टी के म्हां,

फिरँ था भरमता पता नहीं था, कुछ ध्यान दिया जाट्टी के म्हां,

बालकपन्न मैं सेवा करके, ज्ञान लिया जाट्टी के म्हां

गुरु लखमीचन्द की नां के बीच, मैं तीस साल तैं तिरया सँ ॥

मांगेराम ने जो रिश्ते में लखमीचन्द के चाचा थे और हमउम्र भी थे, लगभग 40 वर्ष अपने बनाए हुए सांग किए। उनकी कविता तो रम्य थी, परन्तु गायन और धुन-रचना मध्यम दर्जे के। फिर भी गुरु-ज्ञान से आलोकित मांगेराम ने भक्ति-सन्दर्भ में कृष्ण-जन्म



और धरू भगत, ऐतिहासिक गाथाओं में गोपीचन्द भरथरी और चन्द्रहास और अपनी गुरू प्रणाली में चापसिंह और शकुन्तला जैसे सांगों का डंका हरियाणा के गाँव-गाँव में बजाया। उनके नक्कारची 74 वर्षीय झम्नन के अनुसार मांगेराम के सांगों का बोलबाला हरियाणा की जाट रेजीमेंट और पंजाब रेजीमेंट में फिरोजपुर, जालन्धर, अमृतसर, लाहौर, मुलतान और बन्नू कोहाट के इलाकों तक बना रहा ।

मांगेराम कविता और अभिनय के साथ राष्ट्रवादी भावनाओं की प्रेरणा भी अपने श्रोताओं तक पहुँचाते थे। कलाकार होने के साथ-साथ मांगेराम सामाजिक जीवन और कला-इतिहास के अन्वेषक भी थे। उन्होने हरियाणा के समस्त सांग-इतिहास को केवल एक रागनी में पिरो दिया :

“हरियाणा की काहणी सुण्य ल्यो दो सो साल की।

कई किस्म की हवा चाल्यी नई चाल की।।”

मांगेराम पात्र-चित्रण, मुहावरों और अलंकारों के भी धनी थे। उनकी मीरा और कृष्ण-प्रेम की यह रागनी उनकी काव्य-गरिमा की परिचायक है:

आज्या नन्द के दुलारे हो, रोवै अकेल्ली मीरा।

बालकपण मैं ब्याह करवाया, तेरे संग मैं ब्याही हो,

पीहर छोड़्य सासरै आग्यी, लादयी कुल कै स्याही हो,

धेरख्ये न्यँ धोवै अकेल्ली मीरा ।।

आदम-देह के चौल्ले के संग दूत रहैं सै यम के,

मन्नै सतरंज सेज बिछा राख्यी, बिछे गलीचे गम के,

न्यँ सोवै अकेल्ली मीरा ।।

आँसू भरकर मीरा अपने प्रेमी-प्रभु कृष्ण को उलाहना देती है कि तुम किस प्रकार के प्रेमी हो, बालकपण में कृष्ण से आध्यात्मिक रूप से विवाहित होने पर भी महाराणा से नकली विवाह का जो दाग मीरा को लगा उसे वह अकेले ही धोती है। जीवन-महल सूना है, उसके गलीचों पर प्रियतम-संग क्रीड़ा के लिए विद्यमान नहीं और मीरा केवल एकाकीपन के आँसू पीती है क्योंकि प्रेमी कृष्ण का निवास कहीं और है। इस रागनी के मेरी शिष्या ज्योति से 'वेस्टन कम्पनी' के लिए गायन से पहले मैंने इसके स्वर राग पील्लू में, अपने परम पूज्य गुरू ब्रह्मगोपाल भादुरी जी को सुनाए और तन्त्र और संगीत साधक गोपाल जी लगभग घण्टे भर इस रचना के संगीत-प्रभाव से अभिभूत हो रोते रहे।

मागेराम के साथ-साथ लखमीचन्द के अन्य शिष्य माईचन्द, सुल्तान, रतीराम, चन्दन भी सांग करते रहे । जब ये लखमीचन्द के सांग मंचित करते थे तो खूब जमते थे किन्तु जब स्वनिर्मित सांग अभिनीत करते तो दर्शकों पर इनका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता ।

मागेराम के समकालीन सांगी निदाणा-निवासी धनपतसिंह हुए । ये सुनारियाँ-निवासी जमुआ मीर के शिष्य थे, जो किसी समय दो कोस तक की परिधि में अपने श्रोताओं को अपने गायन से मोहित करने की क्षमता रखते थे। जमुआ मीर की रचनाएँ मुख्यतः धार्मिक थीं । धनपत सिंह की अपने गुरु के प्रति आस्था ने, एक मान्य रचनाकार, गायक और अभिनेता का व्यक्तित्व प्रदान किया । इसीलिए धनपत सिंह अपनी देवी-भेंट में कहते हैं:

जमनादास गुरु का ढंग,

दिया चढ़ा कंवर पर रंग,

उसनेँ ढंग गावण का आया, जो तेरे गुण गाता री, तू तैं भवन आली सै ।

तनै बेरी मैं जग ध्यावै री, रखिए लाज ज्वाला जी, तू तैं भवन आली सै ॥

धनपतसिंह के प्रसिद्ध सांग थे - लीलो-चमन, ज्यानी चोर, सत्यवान-सावत्री, व बन-देवी। धनपतसिंह सांग के बीच दानियों को प्रेरणा देने के लिए सबसे पहली रागनी गाते:

दान करणियों की फिलहाल जरूरत है।

हरिचन्द से दान्नी,

जिन के बिकगये तीन परानी,

इसे नीर भरणियों की फिलहाल जरूरत है।

इसी के साथ स्कूल, धर्मशाला, गौशाला और चौपाल निर्माण के लिए लाखों रुपये के ढेर लग जाते। धनपतसिंह की सांग 'ज्यानी-चोर' से :

नथियां नै डालड़ी ठा ल्यी,

सुरत बाग की ला ल्यी,

और भारत मां के विभाजन पर आधारित सांग 'लीलोचमन' की राग शिवरजनी के सुरों में गायी जाने वाली रागनी :

जिन्दगी भर ना लिकड़ सकूँ, इसे जाल मैं घिरल्यी ।

कह दियो चमन न लील्लो, जीवती मरल्यी ॥

आज भी तीस वर्ष पहले के नवयुवक और अब के प्रौढ़ श्रोताओं को आन्दोलित करती है। धनपतसिंह वर्ष सन् 1960 में स्कूल-निर्माण के लिए मेरे गांव लुहारी जाटू में सांग करने

आए थे। मेरे घर भी आए। मेरे पिता जी के साथ वार्तालाप करते हुए कहने लगे “पंडित जी मैं भी थारी ढालां ब्राह्मण सँ, जनेऊ रक्ता हूँ और मांस-मदिरा को हाथ नहीं लगाता।” याद रहे कि इकावन सौ रू की सांग भेंट लेकर भी धनपतसिंह झोली बान्धकर सांग का निमन्त्रण देने वाले मुखिया के घर सवा मन अनाज की भेंट मांगने जाते ताकि मरासी परम्पराओं की हलीमी को जीवित रखा जा सके। धनपत सिंह की गायन शैली और अभिनय मागेराम से कहीं उत्तम थे, परन्तु रागनी-रचना की दृष्टि से मागेराम अग्रणी थे।

धनपतसिंह के बाद हरियाणा की सांग-परम्परा के चमकते सितारे रामकिशन ब्यास ने भी सन् 1945 से 1990 तक सांगों की रचना और अभिनय किया। वे अब 75 वर्ष के हैं। उनके गुरू अलेवा निवासी माईराम तो केवल भजनिक थे परन्तु गाँव बास में सांग करते हुए पं. लखमीचन्द ने 1940 के आसपास रामकिशन ब्यास को सांगी बनने की प्रेरणा दी। रामकिशन के प्रसिद्ध सांग जो जनमानस पर छाए रहे, के नाम हैं :- रूपकला जादूखोरी, धर्मजीत, सत्यवान-सावत्री, हीरामल-जमाल और कम्मो-कैलाश। रूपकला जादूखोरी की राग बाघेश्वरी के लोक-सुरों में गाई जाने वाली रागनी -

मनियारे आ मेरे पास मैं, कदय की तनै बुलाऊँ मैं ।

राह पावै नां रूपकला भला, क्युकर ऊप्पर आऊँ मैं ॥

आज भी लोगों में प्रेम-भावना का संचार करती है। सांग धर्मजीत में डोले में बैठने की प्रक्रिया में धर्मजीत का सौन्दर्य चित्रण देखते ही बनता है :

लगी कदम धरण डोले मैं,

हुई झरण-झरण डोले मैं,

उट्टै सै झनकार गाल के मांह ।

रामकिशन ब्यास की रचनाएं लोकप्रिय रहीं और इससे भी अधिक लोकप्रिय रहा उनका साज, जहाँ मागेराम को छोड़ कर आए झम्मन जैसे नक्कारची, सब्बीर हुसैन जैसे सारंगी उस्ताद, ताहिर हुसैन जैसे हारमोनियम मास्टर और रोहणा-निवासी प्यारे जैसे ढोलकियों ने उनके मंच को सुशोभित किया।

इन्हीं की आयु के सांगी बाजेभगत-शिष्य और गोरड़ निवासी हरदेवा के पुत्र खिम्मा भी 60 वर्ष से सांग कर रहे हैं बाजे-प्रणाली में, परन्तु इनका कोई जनव्यापी प्रभाव नहीं है। बाजे के शिष्य हुशारे-प्यारे ने भी सांग किए। मागेराम के शिष्य सरूप लाल, लखमीचन्द, कपूर व प्यारे होशियार आदि ने वर्षों तक अपने गुरू के सांगों का मंचन किया।

इसी प्रकार धनपतसिंह के शिष्य श्याम गाँव धरोधी (जीन्द), चन्दगी राम गाँव भगाणा

(हिसार) बनवारी ठेल गाँव मोखरा (रोहतक) भी लोकमंच को आगे बढ़ाते रहे। कलाकार के रूप में धनपतसिंह के मंच पर तो इनकी ख्याति आसमान को छूती थी, परन्तु स्वतन्त्र सांगी के रूप में इन्हें केवल धनपतसिंह के बचे खुचे निशान का आदर ही मिला।

इस शृंखला में रामकिशन ब्यास के शिष्य खटकड़ (जीन्द) निवासी पाल्ले, उन के शिष्य और छोटे भाई महावीर और करनाल निवासी शिष्य ..... सांग मंचन में लीन रहे हैं। परन्तु प्रभाव की समग्रता, गायन की क्षमता और वाद्य-धुनों की पराकाष्ठा का नामोनिशान नहीं।

लखमीचन्द की प्रणाली में एकमात्र जनमान्य सांगी बचे हैं उनके पुत्र तुलेराम और शिष्य जहूर मीर। चन्दन और रतीराम पिछले दो वर्षों में भगवान को प्यारे हो गए। मेरठ जिले के रहने वाले ब्रह्मा और धारे लगभग सत्तर वर्ष के हैं और सांग छोड़ चुके हैं। तुलेराम अपने कवि पिता लखमीचन्द की धुनों को, कथानक प्रस्तुतीकरण और रागनी-गायन को जीवित रखने के प्रयास में लगभग दो सौ सांग प्रतिवर्ष दिल्ली और हरियाणा के देहात में करते हैं। जहूर मीर जैसे शिष्य लखमीचन्द प्रेमियों को अपने गुरू की मौलिक धुनों में रागनियाँ सुना कर लखमीचन्द-युग की याद ताजा करते हैं। परन्तु ये सब प्रयत्न किसी समय अपने ज्वलन्त सौन्दर्य से दर्शकों को मोहित करने वाली यौवना के कागजी चित्रों के बराबर हैं; जो अमिट सौन्दर्य की सीमित झलक तो देते हैं पर सम्पूर्ण दृश्य नहीं।

कहाँ सारंगी के तानसेन भिक्खन और धूलाखान की 'डोलियां', कहाँ सुभान के हारमोनियम आलाप, कहाँ स्त्रीवेष में माईचन्द और सुलतान की पद्मावत और धरममालकी, कहाँ तुंगल और नानक की नक्काड़ा-लय, कहाँ गोहलु और सुक्खन मीर का विदूषक-अभिनय, कहाँ रतीराम और सुभान की टेक-उठान, कहाँ रात की नींद की बलि देकर कोसों से चलकर आने वाले बीस-बीस हजार श्रोताओं के दर्शक-समूह और कहाँ संगीत-अभिनय गायन और कवित्व के सम्राट लखमीचन्द। अमेरिकी उपन्यास 'गोन विद दी विन्डज्' की कहानी की तरह लखमीचन्द युग की सांग-परम्परा केवल अतीत की कहानी बनकर रह गई है जिस की केवल सीमित पुनरावृत्ति ही सम्भव है।